बुन्देली साहित्य में लोकदर्शन

डॉ. अंजली दुबे
अतिथि विद्वान - इतिहास
शासकीय स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)

लोकदर्शन लोकसंस्कृति की आत्मा है, जो उसे चेतना की संजीवनी देकर हमेशा जीवित रखती है। प्राणद्रव होते हुए भी लोकदर्शन अभी तक अछूता रह गया। उस पर न तो दार्शनिकों का ध्यान गया और न लोकसंस्कृति के विद्वानों का। वे तो विशिष्ट दर्शनों के अनुशीलन में लगे रहे ओर सिद्धातों के तंग गलियारों में भटकते रहे, लेकिन उन्होंने आम आदमी के दर्शन को नजर उठाकर नहीं देखा। अगर गहराई में जाएँ, तो लोकदर्शन लोकसंस्कृति का मस्तिष्क है और लोकदर्शन के बिना लोकसंस्कृति का अध्ययन करना संभव नहीं है। इस वजह से यहाँ पहली बार लोकदर्शन की आख्या और ऐतिहासिक विकास-दिशा का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

दर्शन और लोकदर्शन में दर्शन या सम्यग्दर्शन की समानता तो है, लेकिन दोनों में एक खास अंत यह है कि दर्शन किसी विशिष्ट विचारक द्वारा एक विशिष्ट दार्शनिक मत के रूप में प्रतिपादित होता है और उसके अनुयायी या तो विशिष्ट दृष्टिकोण या प्रवृत्ति स्वयमेव निर्मित कर एक निजता प्रतिष्ठित कर लेते हैं अथवा फिर एक संप्रदाय बना लेते हैं, जबकि लोकदर्शन विचारक या वर्ग-विशेष का दर्शन न होकर लोक का दर्शन होता है और वह सदैव अनामधारी एवं संप्रदायमुक्त रहता है। वस्तुः विशिष्ट दार्शनिक समय-समय पर देशकाल की जरूरतों के अनुसार अपना दार्शनिक मत या मान्यताएँ रखते हैं, लेकिन उनके बासी होने पर फिर कोई अन्य नये मत की प्रतिष्ठिा करता है और इस तरह दर्शन का विकास होता रहता है। उनके विचार किसी-न-किसी माध्यम से लोक तक पहुँचते हैं और लोक उनमें से चुनाव करता हुआ उपयोगी और सहज विचारों को अंजाने ही ग्रहण करता है। साथ ही परम्परित विचारों को परखकर नये विचारों से उनका समन्वय करता है और लोक के बीच प्रस्फुटित विचारों का भी स्वागत करता है। उपयोगिता और लोकहित की कसौटी पर खरे उतरने वाले विचार लोकमान्य होकर लोकदर्शन की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इस तरह लोकदर्शन में परम्परित, विशिष्ट दार्शनिक मत से गृहीत और लोक के बीच से प्राप्त विचारों का समन्वय होता है और समन्वय की यह प्रक्रिया लोक द्वारा अपने आप होती है।

आठवीं-नौवीं शती में शंकराचार्य ने एक दार्शनिक क्रांति की थी और अद्वैतवाद के रूप में नये दर्शन का प्रसार किया था, जो आज भी भारतीय दर्शन का मूल है। साथ ही वह भारतीय लोकदर्शन की रीढ़ भी है। दसवीं से लेकर चौदहवीं शती तक चंदेलों ने इस प्रदेश को एकता, दृढ़ता और सुख-समृद्धि प्रदान की थी। उन्हीं के समय बुंदेली लोकभाषा जन्मी और लोककाव्य का विकास हुआ। एक तरफ प्रबोध-चंद्रोदय, रूपकषटकम् जैसे संस्कृत ग्रंथ रचे गए, तो दूसरी तरफ लटकनिया फाग, दिवारी की साखें, देवीगीत, कारसदेव की गोटें और गहनई जैसी चरागाही गाथाएँ, कजरियन के राछरे और आल्हा जैसा लोकमहाकाव्य। चंदेलनरेशों ने शिव और विष्णु के मंदिर खड़े किए, तो मनियाँदेव, आदि भवानी, चंडिका, भैरव, पार्वती या गौरा, शंकर आदि हर घर-गाँव

ISSN 2395-051X

में पुजने लगे। प्रबोध-चंद्रोदय और रूपकषटकम् से मालूम होता है कि इस समय जैन, बौद्ध, कापालिक, चार्वाक आदि विभिन्न दार्शनिक मतों का खंडन और वैष्णव मत का प्रतिपादन हो रहा था तथा उच्च वर्ग इसी मतभेद, विवाद एवं ऐक्य के प्रयासों में उलझा था। लेकिन लोकगीत, लोकगाथाएँ और राछरे इस तथ्य के प्रामाणिक गवाह हैं कि लोकदर्शन में न तो इस तरह का विद्वेष और विवाद था और न इस तरह का उलझाव। लोक के देवी-देवता भले ही घर-घर और गाँव-गाँव के हों, पर उनके संबंध में लोकचिंतन एक-सा था। युग की परिस्थितियों के अनुरूप वैचारिक एकता को बनाये रखने का संकल्पी। आल्हा की कुछ पंक्तिया देखें -

मानुस देही जा दुरलभ है आहै समै न बारंबार।
पात टूट के ज्यों तरवर को कभउँ लौट न लागै डार।।
मरद बनाये मर जैबे कों खटिया पर कें मरै बलाय।
खटिया पर कें जे मर जैंहे नाँउ डूब पुरखन कौ जाय।।
जे मर जैंहे रनखेतन मा साखौ चलो आँगारूँ जाय।।

शरीर और मृत्यु का यह लोकचिंतन तत्कालीन लोक की जागरूकता का प्रमाण है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, क्योंकि वह बार-बार नहीं मिलता। जिस प्रकार पेड़ का पत्ता एक बार टूटने के बाद फिर उस डाल में नहीं लगता, उसी प्रकार मृत्यु के उपरांत मानव शरीर का फिर मिलना कठिन है। इसलिए पुरूष को शय्या पर पड़े-पड़े नहीं मरना चाहिए, वरन् युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु का वरण कर यश अर्जित करना चाहिए। इस तरह की वैचारिकता इस युग की गाथाओं राछरों और देवी-गीतों में मिलती है। गहनई और कारसदेव की गोटें गोचारण गाथाएँ हैं, लेकिन उनमें भी शौर्य का आख्यान है। विदेश आक्रमणकारियों के खिलाफ शौर्य और एकता की प्रेरणा देना उस युग के लोकदर्शन का आंतरिक लक्ष्य था। एकता के उदाहरण यात्रा गीत और दिवारी गीत की पंक्तियों में देखें -

नरबदा अरे माता तो लगै रे,
अरे माता लगै रे तिरबेनी लगै मोरी बैन रे, नरबदा हों ....।
एक पेड़ मथुरा जमो, डार गयी जगन्नाथ रे,
फूलो फूल जो द्वारका, फल लागे बद्रीनाथ रे।

नर्बदा और त्रिवेणी में माता और बहिन के पारिवारिक उपमान तथा मथुरा, जगन्नाथ, द्वारका और बद्रीनाथ की एकता के लिए वृक्ष का रूपक कितने सटीक हैं, इसकी कल्पना हम आज के राष्ट्रीय गीतों से कर सकते हैं। लोकदर्शन द्वारा लोक-जागरण का उदाहरण मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता की कलम से उर्द्धत है- "हिन्दू वीरांगनाओं ने अपने जवाहरात बेच डाले, अपने स्वर्णाभूषण गला डाले और इस धर्मयुद्ध के संचालन के लिए उन्होंने दूरस्थ देशों से भी अपनी सहायता भेजी।"[3]

इसके विपरीत लोकदर्शन की एक दूसरी दिशा भी थी, जिसका संकेत लोकगीतों से मिलता है। उसके अनुसार यह जगत् एक धंधा है, मिथ्या है, माया है, इसलिए उसे नष्ट हो जाने दो- "निकरचलौ दैकें टटिया रे, अरे दैकें टटिया रे धंधे में लगन देव आग रे, निकर चलौ हो ....।" क्योंकि ब्रह्मा के दर्शन की बेला आ पहुँची है - "दरस की तौ वेरा भई रे, अरे बेरा भई रे पट खोलो छबीले भैरों लोल हो, दरस की तौ बेरा भई ....।" दर्शन के लिए भैरों लाल यानी भैरव अथवा भैरों नाथ यानी शिव हों, तो कोई फर्क नहीं पड़ता।[4] दर्शन की बात अलग है, केवल स्नान से ही पाप कट जाते हैं - "सपर लेव कासी जू की झिरियाँ रे, अरे कासी जू की झिरियाँ कट जैहे

जनम के पाप रे, सपरलेव हो .... ।'' एक गीत में 'जीव' को पर्वत का सुआ (परवतवारे सुअना) और 'जगत्' को घर-आँगन बताया गया है। जीव को घर-आँगन अच्छा नहीं लगता। (घर अँगना न सुहाये हो माँ ...), इसलिए वह (तोता) उड़ जाता है और 'कैलास-सिखर' में पहुँचने की इच्छा करता है। इस तरह का आस्तिक दर्शन ही लोकप्रचलित था, जो लोकगीतों में जगह-जगह उभरा है।

पुराणों की कथाशैली का उपयोग तोमरकालीन कथाकाव्यों और लोकगाथाओं में हुआ है। कथा के द्वारा लोक को प्रेरणा देने का काम तोमर-काल की जरूरत थी। मुस्लिम सत्ता के कुछ केन्द्र स्थापित होने के बाद सूफी और इस्लाम दर्शन भी यहाँ पहुँच चुके थे, इस कारण लोकदर्शन को और भी व्यापक होना पड़ा। उसने एक तरफ अपनी परम्परित वैचारिकता को सुरक्षित रखा, तो दूसरी तरफ विदेशी मतों से संपर्क भी रखा। वैसे उच्च वर्ग यानी के विदेशी मुसलमान हिन्दुओं को सहन नहीं कर पाते थे और हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था में सूफी या इस्लाम के अनुयायियों के लिए कोई स्थान नहीं था, लेकिन साधारण हिन्दू और मुसलमान मिलकर रहना पसंद करते थे। इसी लोकचेतना को पहचानकर भक्तिप्रधान दर्शन शुरू हुआ। संतों ने किसी विशिष्ट सामाजिक और धार्मिक संप्रदाय से न बँधकर बहुदेववाद और कर्मकांड का विरोध करते हुए एक ब्रह्म या ईश्वर की भक्ति को मोक्ष का साधन निरूपित किया। उनहोंने सभी तरह के भेद-भाव से मुक्त हृदय में ही ईश्वर का निवास बताकर मूर्ति-पूजा, जाति-प्रथा छूआछूत आदि का जोरदार खंडन किया और इस तरह एक सहज एवं सरल लोकदर्शन का प्रतिपादन किया।

दूसरी तरफ विजातीय तत्वों की कट्टरता के खिलाफ एक संघर्षमयी चेतना का उदय हो चुका था, जिसमें शैव-शक्ति-वैष्णव और अन्य दर्शनों के भेदभव भुलाकर एकता पर बल दिया गया था और जिसके कारण बुंदेली काव्य और लोककाव्य में संप्रदायमुक्त धर्म और दर्शन को महत्व मिला था। ग्वालियर के सांस्कृतिक केन्द्र में रामायण, महाभारत और गीता को केन्द्र में रखकर राम-कृष्ण को ही ईश्वर मानकर उनकी कथाओं के द्वारा संघर्षधर्मी लोकचेतना को प्रेरणा दी गयी थी। बुंदेली के प्रारंभिक भक्तिपरक लोकगीतों में इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखें -

पवन जू के हनुमत हैं रखवारे।
आँधी बैरह खां बंद करते हैं, डीलन काज सँवारे।। पवन जू.।।
हमरे हनुमत ऐसें गरजत हैं, जैसें इन्दर अखाड़े।। पवन जू.।।
हमरे राम जू ऐसें गरजत हैं, जैसें इन्दर अखाड़े।। पवन जू.।।
हमरे किस्नजू ऐसें गरजत हैं, जैसें इन्दर अखाड़े।। पवन जू.।।

बुंदेली के निर्गुनिया लोकगीतों में हिन्दी के संतकाव्य जैसी मस्ती और फक्कड़पन हैं उनका ब्रह्म या पुरूष कबीर जैसा है। लोकदर्शन में कबीर-दर्शन का अनुकरण है, पर वह लोकस्तर पर सरल और सहज हो गया है और उसमें गोरख या नाथ मत का भी पुट है। इसी समय हिन्दू और इस्लाम तथा सूफी दर्शन के समन्वय के लिए कलगी-तुर्रा वाली लावनी का प्रसार हुआ, जिसमें शक्ति और शिव की पक्षधरता लेकर प्रतियोगिता शुरू हुई और दर्शनपरक संवाद से लोक में समन्वयकारी दर्शन का विकास हुआ। लोकप्रचलित जनश्रुति है कि चन्देरी राज्य के संत तुकनगिरि (मध्यदेशीय तुकनगीर) और फकीर शाह अली के बीच इसी संवाद का दंगल होता था। एक बार राजदरबार में दंगल हुआ, जिसमें चन्देरी-नरेश ने प्रभावित होकर पहले को तुर्रा और दूसरे को कलगी भेंट में दी और दोनों का सम्मान किया।[5] तभी से तुर्रा कलगी की फड़बाजी प्रारम्भ हुई तुर्रा दल ब्रह्म और कलगी

ISSN 2395-051X

शक्ति या माया को श्रेष्ठ ठहराने का प्रयत्न करता है। कलगी पक्ष हैं जबकि तुर्रा पक्ष शक्ति को शिव की पत्नी मानता हैं इसी को लेकर दोनों दलों में प्रतिस्पर्ध रहती है और कूट दार्शनिक प्रश्न उठाये जाते हैं, जो लोकदर्शन को प्रभावित करते हैं।

15वीं शती में बुंदेलखंड एक उदार-व्यापक लोकचेतना का नेतृतव करता है और अपने साहित्य एवं लोकसाहित्य द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता के द्वारा खेलता है। उदाहरण के तौर पर नारायणदास के 'छिताईचरित' और बैजू-बख्शू के पदों को रखा जा सकता है। 'छिताईचरित' में अलाउद्दीन के चरित्र-चित्रण और बैजू-बख्शू के पदों में देवताओं और उनकी लीलाओं के सम्प्रदायमुक्त वर्णनों से इस समन्वय का पूरा-पूरा आभास मिल जाता है। ग्वालियर के तोमरकालीन देसी संगीत ने सूफियों को बहुत प्रभावित किया था। वस्तुतः संगीत या कोई कला किसी भी तरह के भेदभाव से दूर रहती हैं इसी वजह से चंदेरी में लावनी या ख्याल गायकी में तुर्रा-कलगी का पक्ष लेकर तुकनगिरी और शाहअली की जोड़ी बनी। बैजू और बख्शू की जोड़ी की तरह। सबसे पहला सशक्त माध्यम संगीत ही था, जिसने ग्वालियर और जौनपुर के घरानों में मेल करवाया था। जब जौनपुर पर लोदियों ने अधिकार कर लिया, तब सुल्तान के पुत्र लाद खाँ का ग्वालियर में आश्रय लेना, तोमरनरेश, कल्याणमल्ल (ई. 1480-86) द्वारा मुसलमान नबी हजरत सुलेमान-विषयक 'सुलैमच्चरित' ग्रंथ की संस्कृत में रचना और मानसिंह तोमर के दरबार में महमूद लोहंग, बख्शू आदि[6] का संगीतपरक पदकाव्य में योगदान इस तथ्य का साक्षी है कि हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का व्यावहारिक स्वरूप ग्वालियर की ही देन है। 'मानकुतूहल' नामक ग्रंथ में 'ढफ' के प्रचलन का उल्लेख है।[7] चंदेरी पर मुसलमान शसन रहा और उसका प्रभाव संगीतकारों पर भी पड़ा। संगीत-नृत्य के अखाड़े[8] ग्वालियर में थे, चंदेरी[9] में भी प्रतिष्ठित रहे और उनसे प्रकट है कि प्रतिद्वंद्विता की प्रवृत्ति ने कलाकारों में प्रश्नोत्तर शैली का विकास किया था। वैसे तो प्रश्नोत्तर शैली यक्षों की देन है, लेकिन इस समय अखाड़ों ने उत्कर्ष पर पहुँचा दिया थ। कलगी-तुर्रा की दार्शनिकता का आधार सिद्धों और नाथें का परवर्ती चिंतन है और ग्वालियर-क्षेत्र में नाथों के गढ़[10] मौजूद थे। इन प्रामाणिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि तुर्रा-कलगी का उद्भव और विकास सबसे पहले यहीं हुआ था।

कलगी-तुर्रा क अनुयायी और कुछ विद्वान तुकनगिरि और शाहअली को मध्यप्रदेश में चंदेरी का निवासी मानते हैं और इन आदि गुरूओं से ही दोनों दलों की परम्परा चली है। निश्चित है कि चंदेरी की कलगी-तुर्रा शैली बुंदेलखंड से चलकर महाराष्ट्र, निमाड़, मालवा और रास्थान पहुँची है। डॉ. श्याम परमार ने अपने लेख 'तमाशा' में लिखा है कि ''महाराष्ट्र में लावनी की रचना यों देखें तो पानीपत युद्ध के पश्चात् विकसित हुई।''[11] इसका तात्पर्य है कि 1526 ई. के बाद ही महाराष्ट्र में लावनी फली-फूली। उनका मत है कि ''मालवा में कलगी-तुर्रा के प्रवेश उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ।''[12] डॉ. महेन्द्र भनावत ने अपने लेख 'ख्यान' में प्रसिद्ध विद्वान देवीलाल सामर का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार ख्याल की लोकधर्मी परम्परा आगरा के निकट शुरू हुई थी और वही 18वीं शती में रास्जस्थान में आई।[13] इससे स्पष्ट है कि तुर्रा-कलगी के ख्याल आगरा के दक्षिण चंदेरी में शुरू हुए औरग्वालियर से होकर कई प्रदेशों तक फैले। ग्वालियर उस समय बुंदेलखंडी ही नहीं, भारतीय संस्कृति का केन्द्र था और वहीं से गायकी फैलती थी।[14]

इस जनपद में संत तुकनगिरि और रिसालगिरि के तुर्रे का जोर अधिक रहा। जहाँगीराबाद के लावनी-कलाकांत पं. हरिवंशलाल शर्मा के सुपुत्र दिनेश कौशिक ने जो वंशवृक्ष 1984 ई. के ख्याल-लावनी-समारोह की स्मारिका में प्रस्तुत किया है, उससे रिसालगिरि 17वीं शती के ठहरते हैं। बुंदेलखंड के

ख्यालों में रिसालगिरी का नाम अवश्य आता है, इससे स्पष्ट है कि रिसालगिरि ने ही इसे उत्कर्ष दिया था और तुर्रा या वेदांत का सरल सहज रूप ही लोकदर्शन पर छाया रहा। वसंत निरगुणे ने अपने लेख- 'कलगी-तुर्रा' में गोगावाँ निवासी तुर्रा गायक सुमेरसिंह सुमन के पूर्वज केशव बल्लभ की 1700 ई. की ख्याल रचनाओं का उल्लेख किया है,[15] जिससे रिसालगिरि की तिथि और पीछे खिसक जाती है और तुकनगिरि का 15वीं शती में होना सिद्ध हो जाता है। इस तरह दर्शनपरक लोककाव्य का उद्भव बुंदेलखंड में ही 15वीं शती में हुआ था, नहीं तो गोगाँवा का लोकगायन या डॉ. श्याम परमार और रामनारायण अग्रवाल जैसे दूसरे जनपदों के विद्वान चंदेरी की लोक श्रुति को इतना महत्व न देते।

सन्दर्भ

1. महाभारत, उद्योग पर्व 62/24-25
2. अंधकारयुगीन भारत, काशीप्रसाद जायसवाल, अनु. रामचंद्र वर्मा, सं. 1995, पृ. 133, 205
3. तारीख-ए-फरिश्ता, भाग 1, ब्रिग्स, पृ. 46
4. मेरा लेख-'दरस की तौ बेरा भई'..., धर्मयुग, 4 जनवरी, 1987
5. मालवी लोकसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ. श्याम परमार, 1969, ई. पृ.227 एवं सांगीत : एक लोकनाट्य परंपरा, रामनारायण अग्रवाल, 1976, ई. पृ. 31 तथा ख़याल-लावनी समारोह-स्मारिका, संपा. डॉ. शरद नागर, 1984, ई. पृ. 33 पर कृष्णगोपाल दुबे का लेख
6. मानसिंह और मानकुतूहल, हरिहरनिवास द्विवेदी, सं. 2010, पृ. 58
7. वही, पृ. 103
8. महाभारत, विष्णुदास, विराट पर्व, तृतीय अध्याय, छंद 7-8
9. छिताई कथा, नारायणदास, छंद 210, 488, 726 एवं मेरा लेख- ''नित नव रंग अखारे होई., साप्ताहिक हिंदुस्तान, 18 जनवरी, 1981 तथा 'ओरछा का अखाड़ा जिसने रीतिकाव्य को जन्म दिया'', साप्ताहिक हिंदुस्तान, 17 मार्च 1985
10. विष्णुदास कृत 'रामायनी कथा' एवं 'महाभारत' में कवि का परिचय, ग्वालियर की सिद्ध-पीठ और खड्गराय कृत 'गोपाचल आख्यान' में उल्लिखित नाथपंथियों की परंपरा
11. लोकरंग, संपा. डॉ. महेंद्र भानावत, 1971, ई., पृ. 100
12. वही पृ. 106
13. वही पृ. 192
14. मानसिंह और मानकुतूहल की भूमिका एवं राग-दर्पण
15. चौमासा, वर्ष 3/अंक 7 में वसंत निरगुणे का लेख-'कलगी-तुर्रा', पृ. 3-4
16. लोककवि ईसुरी और उनका साहित्य, संपा. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, 1984 ई., बुदेलखंड साहित्य अकादमी, छतरपुर, म.प्र.